Gyanshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2019 GISRRJ | Volume 2 | Issue 2 | ISSN : 2582-0095

पं. दीनदयाल उपाध्याय की लोकतंत्र में पुरोधा की आर्थिक चिन्तन का प्रभाव

डॉ. जगदीश प्रसाद जाटः
एसोसिएट प्रोफेसर
स्वः लक्ष्मी कुमारी बधाला गर्ल्स पी.जी. कॉलेज गोविन्दगढ़
चौमूँ (जयपुरम्)

लोकतंत्रा के पुरोधा राष्ट्रीय अवधारणाएँ

दीनदयाल उपाध्याय भारतीय संस्कृति के अधिष्ठान पर ही राष्ट्रीय स्वातंत्र्य को गाढना चाहते थे। अतः पाश्चात्य अवधारणाएँ जो सामान्यतः सर्वसम्मत-सी मानी जाती है, दीनदयाल उनके अंधे अनुयायी बनने को तैयार नहीं थे। पाश्चात्य राज्य परिकल्पना, पाश्चात्य सेक्युलरिज्म, पाश्यचात्य लोकतंत्र तथा पाश्चात्यों के विभिन्न वाद, इन सब पर दीनदयाल अपनी भारतीयतावादी टिप्पणी करते हैं तथा वे इन सब परिकल्पनाओं के भारतीयकरण के हिमायती हैं। वे मानते थे कि लोकतंत्र भारत को पश्चिम की देन नहीं है भारत की राज्यावधारणा प्रकृतितः लोकतंत्रवादी है। वे लिखते हैं :

"वैदिक 'सभा' और 'समिति' का गठन जनतंत्रीय आधार पर ही होता था तथा मध्यकालीन अनेक राज्य पूर्णतः जनतंत्रीय थे। राजतंत्रीय व्यवस्था में भी हमने राजा को मर्यादाओं में जकड़ कर प्रजानुरागी ही नहीं, प्रजा (जन) अनुगामी भी माना है। इन मर्यादाओं का अतिक्रमण करने वाले नृपतियों के उदाहरण अवश्य मिल सकते हैं। किन्तु उनके विरूद्ध जनता का विद्रोह तथा उनको आदर्श शासक न मानकर, हीनता की श्रेणी में गिनने के प्रयत्नों से ही हमारी मौलिक जनतंत्रीय भावना की पुष्टि होती है।"

दीनदयाल कहते हैं ‘‘लोकतंत्र की एक व्याख्या की गई है कि वह वाद-विवाद से चलने वाला राज्य है। 'वादे-वादे जायते तत्व बोधाः' कि यह हमारे यहां की पुरानी उक्ति है। किंतु यदि दूसरे दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न न करते हुए अपने ही दृष्टिकोण का आग्रह करते जाए, तो वादे-वादे जायते कंठशोषाः' यह उक्ति चरितार्थ होगी। वाल्टेयर ने जब कहा कि 'मैं तुम्हारी बात सत्य नहीं मानता; किंतु अपनी बात कहने के तुम्हारे अधिकार के लिए मैं पूरी शक्ति से लडूंगा'। तो उसने मनुष्य के केवल 'कंठशोषाः' को ही स्वीकार किया। भारतीय संस्कृति इससे आगे बढ़कर वाद-विवाद' को 'तत्वबोध के साधन के रूप में देखती है।" पश्चिम में प्रजातंत्र के उदय की प्रक्रिया, उसके पूंजीवाद के रूप में विकृत हो जाने एवं कार्लमार्क्स की तानाशाही परक प्रतिक्रिया आदि का दीनदयाल जी ने विषद् विवेचन किया।

लोकतंत्र का भारतीयकरण

दीनदयाल उपाध्याय लोकतंत्र की तात्विक अवधारणा से सहमत होते हुए भी, पाश्चात्य निरंकुश राजशाही की प्रतिक्रिया से उत्पन्न, पूंजीवाद पोषित व सर्वसत्तावादी राज्यवाद की प्रतिक्रिया उत्पन्न करने वाले लोकतंत्र को, भारतीयकृत करना चाहते हैं। लोकतंत्र का भारतीयकरण करने का उन्होंने आवाहन किया।

पश्चिम ने लोकतंत्र को निर्वाचन की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया प्रदान की है। । संविधान, कार्यपालिका, विधायिका व न्यायपालिका का सृजन किया है; लेकिन

यह केवल लोकतंत्र का औपचारिक स्वरूप है। लोकतंत्र की असली आत्मा उसके 217 स्वरूप में नहीं, वरन जनाकांक्षा को सही रूप से प्रतिबिंबित करने की भावना में

है : "जनतंत्र किसी बाहरी ढांचे पर निर्भर नहीं रहता। बालिग मताधिकार तथा निर्वाचन पद्धति जनतंत्र के बहुत बड़े अंग हैं; किंतु इनसे ही जनतंत्र की स्थापना नहीं हो जाती। रूस में दोनों ही विद्यमान है, किंतु राजनीति विशारद इसे जनतंत्र मानने को तैयार नहीं। मताधिकार तथा निर्वाचन के साथ एक भावना भी जनतंत्र के लिए आवश्यक है।.... केवल बहुमत का शासन ही जनतंत्र नहीं है।. .... ऐसे तंत्र में तो जनता का एक वर्ग सदैव ऐसा रहेगा जिसकी आवाज चाहे वह सही ही क्यों न हो दबा दी जायेगी। जनतंत्र का यह स्वरूप 'सर्वजनसुखाय, सर्व जन हिताय, नहीं हो सकता... अतः भारतीय जनतंत्र की कल्पना में निर्वाचन, बहुमत, अल्पमत आदि बाहरी व्यवस्थाओं के स्थान पर सभी मतों के सामंजस्य और समन्वय पर ही बल दिया गया है। विरूद्ध मत रखने वाला एक व्यक्ति ही क्यों न हो, हमें उसके मत का आदर ही नहीं, बल्कि उसका योग्य समावेश अपनी कार्यपद्धति में करना चाहिए। इंगलैंड में, जहां आज की जनतंत्रीय पद्धति ने सर्वाधिक सफलता प्राप्त की है, विरोधी दल के नेता को सरकारी खजाने से वेतन दिया जाता है। खेल के लिए जैसे दो दलों का होना आवश्यक है, वैसे ही संसद में दो दलों का होना आवश्यक समझा जाता है। शासन की नीतियों पर विरोधी दल सतत् प्रकाश डालता रहता है।"

लोकतमत परिष्कार एवं सामान्य इच्छा

उपाध्याय मानते हैं कि लोकमत का तात्कालिक निर्णय चाहे बहुमत से हो, लेकिन लोकमत केवल बहुमत के शासन व अल्पमतों के वैचारिक स्वतंत्रता से अपने को ठीक प्रकार से अभिव्यक्त नहीं कर पाता। इससे दलीय कटुता एवं समाज में अखंड कलह का निर्माण होता है, अतः लोकतंत्र न बहुमत का शासन है, न अल्पमत का; वह जनता की 'सामान्य इच्छा' का शासन है। जनता अपनी सामान्य इच्छा को औपचारिक रूप से अभिव्यक्त नहीं कर पाती। जब 'सामान्य इच्छा' के बारे में सामाजिक सम्भ्रम हो तो 'लोकतंत्र' भीड़तंत्र में बदल जाता है।

वाचाल लोग उसका दुरूपयोग कर सकते हैं। उपाध्याय सेक्सपियर ने नाटक 'जुलियस सीजर' का उदाहरण देते हुए कहते हैं : "जो जनता ब्रूटस के साथ होकर जुलियस सीजर के वध पर हर्ष मना रही थी, वही थोड़ी देर में ऐंटोनियो के भाषण के उपरांत ब्रूटस का वध करने को उद्दत हो गयी। मोबोक्रेसी और ऑटोक्रेसी के दोनों पाटों के बीच से डेमोक्रेसी को जीवित रखना एक कठिन समस्या है। अतः लोक चेतना के संतुलित विकास की आवश्यकता रहती है इसी को उपाध्याय प्राचीन भारत की 'लोकमत-परिष्कार' पद्धति कहते हैं

लोकमत-परिष्कार एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है। जहां साम्यवादी तानाशाही देशों में सत्ता द्वारा 'ब्रेनवाशिंग' अथवा 'असहमतों के नागरिक अधिकारों से वंचन' की अपनायी गयी प्रक्रिया अमानवीय है; वहीं तथाकथित लोकतंत्र में इस विषय में या तो अराजकता है या सरकारी प्रचारतंत्र को उसका माध्यम बनाया जाता है।

"भारत ने इस समस्या का समाधान राज्य के हाथ से लोकमत निर्माण के साधन छीन कर किया है। लोकमत-परिष्कार का कार्य है वितराग द्वंद्वातीत सन्यासियों का है। लोकमत के अनुरूप चलने का काम है, राज्य का। सन्यासी सदैव धर्म तत्वों के अनुसार जनता के ऐहिक एवं अध्यात्मिक उत्कर्ष की कामना लेकर अपने धर्म की मर्यादाओं का ज्ञान करवाते रहते हैं। उनके समक्ष कोई लोभ और मोह न होने के कारण से सत्य का उच्चारण सहज ही कर सकते हैं। शिक्षा और संस्कार से ही समाज के जीवन मूल्य बनते और सुदृढ़ होते हैं। इन मूल्यों का बांध बनाने के बाद, लोकेच्छा की नदी कभी अपने तटों का अतिक्रमण करके संकट का कारण नहीं बनेगी। उपाध्याय का 'लोकमत-परिष्कार' विचार वैसा ही है जैसा कि लोकतंत्रात्मक जनचेतना के निर्माण के लिए कुछ लोगों ने पश्चिम में 'वी एजुकेट आवर मास्टर्स' का आंदोलन चलाया था। लोकतंत्र की सफलता के लिए जिन मनोभावों की विवेचना उपाध्याय प्रस्तुत करते हैं उनमें मुख्य है :

1. सहिष्णुता और संयम, 2. अनाशक्त भाव तथा 3. कानून के प्रति आदर की भावना। इन मनोभावों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हुए, लोकमत परिष्कार के माध्यम से इनका समाज में संचार हो, इसके लिए उन्होंने कार्यकर्ताओं का आह्वान किया।

दीनदयाल जी केवल अकादमिक विद्वान या दार्शनिक ही नहीं थे, वरन् प्रत्यक्ष राजनीतिक क्षेत्र के कार्यकर्ता भी थे। निर्वाचन प्रक्रिया सत्ता स्पर्धा का हथियार नहीं, वरन् सामाजिक सहभागिता का माध्यम है। उसको इसी माध्यम के नाते इस्तेमाल करने के लिए उन्होंने अच्छा उम्मीदवार, अच्छा दल तथा अच्छा मतदाता कैसा होना चाहिए- इस पर भी निर्वाचन काल में ही अपने विचार प्रकट किए हैं। जो उनकी राजनेता नहीं वरन् राजनीतिज्ञ की छवि प्रस्तुत करते हैं।

उपाध्याय के मतानुसार एक समुचित उम्मीदवार वह है जो विधानमंडलों में अपने दल के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करने के साथ ही अपने क्षेत्र के मतदाताओं की नब्ज को पहचानता है। एक व्यक्ति के नाते उसे अपने मतदाताओं के प्रति वफादार होना चाहिए और एक दल का सदस्य होने के नाते, जिस दृष्टिकोण का यह प्रतिनिधित्व करता है, उस दल के अनुशासन का पालन करने के साथ उसके उद्देश्य की पूर्ति के लिए मन में समर्पण का भाव भी रखना चाहिए।"

दल व जन के प्रति समन्वित निष्ठा अच्छे उम्मीदवार की कसौटी है; लेकिन वर्तमान भारतीय दलों द्वारा चयन की कसौटी पर अपना असंतोष प्रकट करते हुए वे कहते हैं कि उन्हें अच्छे उम्मीदवार के बजाय जीतने वाले घोड़े की चिंता रहती है ।

"दुर्भाग्यवश यह कहना पड़ता है कि भारत में शायद ही कोई राजनैतिक दल इन सब बातों की चिंता करता हो, और इस कारण उनके मस्तिष्क में केवल यही बात चक्कर काटा करती है कि किसी भी रीति से उसका प्रत्याशी विजयी होना चाहिए। वह किसी भी ऐसे उम्मीदवार को अपने टिकट से खड़ा करने का प्रयास करते हैं जिसमें जीत के लक्षण अधिक प्रतीत होते हों।" इसलिए दीनदयाल मतदाताओं को सावधान करते हैं "हमें स्मरण रखना होगा कि एक अयोग्य उम्मीदवार इस आधार पर हमारा मत प्राप्त करने का अधिकार नहीं है क्यों कि उसका संबंध एक अच्छे दल से है।.... यह संभावना है कि ऐसे अयोग्य व्यक्ति को अपना टिकट प्रदान करते समय उस दल ने संस्था के लाभ से प्रभावित होकर ऐसा निर्णय लिया हो या ऐसी मंशा न होने के बाद भी उससे निर्णय की भूल हुयी हो। अतः उत्तरदायी मतदाता का अब यह कार्य हो जाता है कि वह अपनी जागरूकता का परिचय देकर उक्त गलती को दुरूस्त कर दे।"

लोकतांत्रिक व्यवस्था में राजनैतिक दलों की बहुत निर्णायक भूमिका होती है। कोई समाज कितना लोकतांत्रिक है, यह उसके दलों के चरित्र देखकर जाना जा सकता है। उपाध्याय के अनुसार श्रेष्ठ दल के लक्षण हैं : "जो सत्ता पर अधिकार प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्तियों का झुंड न होकर एक ... जीवमान संगठन हो, जिसका सत्ता प्राप्त करने के अतिरिक्त अपना अलग वैशिष्ट्य हो। ऐसे दल की दृष्टि में सत्ता पर अधिकार करना उद्दिष्ट न होकर, अपने सिद्धांतों एवं कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने का एक साधन होगा। इसलिए उस दल के सर्वोच्च पदाधिकारियों से लेकर साधारण-से-साधारण सदस्य तक में अपने इस आदर्शवाद के प्रति एक निष्ठा होगी। हमें स्मरण रखना चाहिए कि यह निष्ठा ही अनुशासन और आत्मसमर्पण की भावना उत्पन्न करती है।.... यदि अनुशासन ऊपर से थोपा जाता है तो वह किसी भी दल के आंतरिक शक्तिहीनता को ही प्रकट करता है।"

दीनदयाल उपाध्याय दुख पूर्वक प्रतिपादित करते हैं कि भारत के राजनैतिक दल केवल नाम के लिए ही दल है। दलों के आंतरिक शक्तिहीनता उन्हें समाज के अवांछनीय शक्तियों का अवलम्ब ग्रहण करने को मजबूर करती है। उपाध्याय मुख्यत: मजबूरियों का उल्लेख करते हैं। 1. राजा-महाराजा, 2. जातिवाद, तथा 3. उद्योगपति।

"भारत के राजनैतिक दल अभी अपनी गहरी जड़ें जनता में जमा नहीं सके हैं।... राजनैतिक दलों को विभिन्न राजनैतिक कार्यक्रम को एक ओर रखकर चुनाव के लिए सिद्ध होना पड़ता है यही कारण है कि आज भी पुराने राजे-महाराजाओं, नवाबों और जागीरदारों को अपने-अपने दल में घसीटने का प्रयत्न किया जाता है।.... हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि इस पुराने वर्ग को भी देश के राजनैतिक क्षेत्र में सक्रिय बनाना चाहिये परन्तु उनको टिकट देने का अधार तो राजवंश में उनका जन्म न होकर, उनकी योग्यता ही होनी चाहिए।"

"जाति और सम्प्रदाय का विचार भी प्रत्याशियों के चयन को बुरी तरह प्रभावित करते हैं।.... भारत में प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी जाति का अंग है। अतः दूसरे लोगों पर जातियता एवं संकीर्णता का आरोप लगाने से अंजाने में ही देश में इस भावना को अप्रत्यक्ष रीति से और अधिक बल मिलता है।.... यदि परिस्थिति यहां तक बिगड़ती है कि डॉ. राम मनोहर लोहिया जैसे व्यक्ति को चुनाव मैंदान से इसलिए हटाना पड़े कि वे उक्त निर्वाचन क्षेत्र में निवास करने वाले मतदाताओं की बहुसंख्य जाति के नहीं हैं तो यह एक गंभीर बात होगी; परंतु इसके निराकरण का उपाय तो यही है कि दल के संगठन को दृढ़ बनाया जाए न कि जाति के आधार पर मतदाताओं से अपील की जाए।"

प्रत्याशियों का चयन करने में प्रत्याशी की आर्थिक स्थिति और निर्वाचन में धन व्यय करने की क्षमता, दूसरा प्रमुख आधार रहा करता है, जो इसे प्रभावित करता है। बहुत से व्यक्तियों को टिकट प्रदान करने का कारण उनके धन व्यय करने की क्षमता ही रहा करती है।..... वास्तव में वे जनता और राजनैतिक दलों से उनके मत और टिकट प्राप्त करने नहीं आते वरन् उन्हें खरीदने आते हैं।..... संसद की सदस्यता तो उनके लिए अपनी चर्बी बढ़ाने एवं अधिक मोटा होने के कारण व्यापार है। कांग्रेस सहित सभी राजनैतिक दल धनाभाव से इतने परेशान हैं कि वे अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए इनका सहयोग प्राप्त करने को आतुर रहते हैं।

उपाध्याय की यह आस्था है कि मतदाताओं की बुद्धिमता ही इसका इलाज है : ‘‘यह सब ऐसे तथ्य हैं कि जो देश की राजनीति को गलत दिशा में ले जा रहे हैं।".... राजनैतिक दलों को, जो देश की राजनीति में प्रमुख दल के रूप में विकसित होना चाहते हैं, इन खतरों से सचेत रहकर अपने सिद्धांत की हत्या नहीं करनी चाहिए। इसी भांति जनता का यह कर्तव्य है कि वह जागरूक रहकर बुद्धिमत्ता के साथ हंस के समान अपने नीर-क्षीर-विवेक का परिचय दे जिससे देश के राजनैतिक दलों के गलत दृष्टिकोण को सुधारा जा सके।’’ इस हेतु उपाध्याय मतदाता को निम्न बातें स्मरण रखने का आग्रह करते हैं :

1. "अपने मताधिकार का प्रयोग पार्टी के लिए न कर सिद्धांत के लिए, व्यक्ति के लिए न कर पार्टी के लिए और धन के लिए न कर व्यक्ति के लिए (करना) है।

2. .... प्रचार के शिकार होकर किसी भी व्यक्ति को केवल इस आधार पर ही अपना मत दे आते हैं कि वह विजयी होने वाला है तो चुनाव परिणाम कुछ भी हो, वह आपकी हार ही कही जायेगी।"

3. "...मतदान का अधिकार आपके सद्विचार और आपके सद्विवेक की कसौटी है अतः उस ओर से उदासीन न हों, उसे बेचें नहीं और न उसे नष्ट होने दें।"

4. "मतदान का अधिकार प्रत्येक नागरिक की स्वाधीनता का प्रतीक है और इस कारण एक लोकतंत्रवादी होने से आपको इसका उपयोग किसी के निर्देश पर न कर, स्वयं के सद्विवेक एवं आत्मा की पुकार पर करना चाहिए।"

5. "..... जनता को पुनः पुनः यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि वह ही राजनीति दलों की निर्माता है।"

दीनदयाल उपाध्याय एक राजनीतिक दल के महामंत्री थे, लेकिन उनके उपर्युक्त विचार, दलवाद से ऊपर उठकर एक लोकतंत्रवादी के नाते व्यक्त किए गए विचार हैं। भारत का बहुलतावादी चरित्र अपनी राष्ट्रीय एकता को तभी बनाए रख सकता है, जब देश में लोकतंत्र रहे। उनके राष्ट्रवाद ने ही उन्हें प्रखर लोकतंत्रवादी बनाया था।

दीनदयाल उपाध्याय का लोकतंत्र विषयक विचार लोकतंत्र की पाश्चात्य व भारतीय अवधारणा से प्रारंभ होकर उसके भारतीयकरण अर्थात् 'लोकमत-परिष्कार' की विवेचना करते हुए भारतीय लोकतंत्र के विश्लेषण के साथ पूर्ण होता है। उपाध्याय का चिंतन आदर्शवादी है। वे अपने विचारों में समाज शास्त्रीय व मनोवैज्ञानिक तत्वों से ज्यादा नीतिशास्त्र से प्रभावित है। किसी दल को नीतिशास्त्रीय नेता उपलब्ध होना बड़े सौभाग्य की बात होती है। प्रतिकूल परिस्थितियों में भी जो आदर्श का आचरण करता है 'नीतिशास्त्र' की महत्ता को भी सिद्ध कर पाता है। समझौतावादी लोग आदर्श व नीति को तात्कालिक परिणामों के भय से त्याग देते हैं। उनके व्यवहार नीति के नाम पर अवसरवाद पनपता है। जिस 'अवसरवाद' के बारे में दीनदयाल उपाध्याय ने

चेताया था, उसका जब भयानक दौर भारत में प्रारंभ हुआ, उसी दौर में उनकी हत्या हो गयी, भारतीय लोकतंत्र की वह बड़ी क्षति थी। '

आर्थिक चिंतन

विद्यार्थी जीवन से ही गणित के संदर्भ में उनकी प्रतिभा को विषय में हम जानते हैं, लेकिन वह उच्च शिक्षा में साहित्य के छात्र थे, जब वे राजनैतिक दल के कार्यकर्ता बने तब उन्होंने महसूस किया कि स्वतंत्र अर्थनीति के बिना कोई स्वतंत्र समाज अपना समुचित विकास नहीं कर सकता। वे कोई बना बनाया आर्थिक राजनैतिक ढ़ांचा स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। दीनदयाल उपाध्याय एक ऐसे दल के नायक थे जो मूलतः संस्कृतिवादी था तथा भौतिक जीवन के बिना बने बनाये पाश्चात्य मार्गों पर नहीं चलना चाहता था। आधुनिक लोक कल्याणकारी राज्य कल्पना के साथ बिना 'आर्थिक नीति' के कोई राजनैतिक दल चल नहीं सकता। समाजिक, आर्थिक जीवन से निकटता प्राप्त किये बिना सांस्कृतिक, धार्मिक व शास्त्रीय अवधारणाओं के बल पर कोई दल राजनैतिक वर्चस्व नहीं प्राप्त कर सकता। अतः जब दीनदयाल उपाध्याय ने दल का नेतृत्व संभाला तो उन्होंने अपने दल के सांस्कृतिक आग्रहों के अनुकूल अर्थनीति को विकसित करने का प्रयत्न किया। प्रभूत फुटकर लेखों तथा प्रलेखों के साथ ही इस विषय पर दीनदयाल उपाध्याय द्वारा क्रमबद्ध रूप से लिखी हुई तीन पुस्तकें हमें अध्ययनार्थ उपलब्ध है :

1. द टू प्लान्स : प्रोमिसेस, परफोर्मेस, प्रोस्पेक्टस.. (दो योजनायें : वायदे, अनुपालन, आसार)
2. भारतीय अर्थनीति : विकास की एक दिशा तथा
3. डीवेल्यूऐशन- ए ग्रेट फॉल (अवमूल्यन-एक महान क्षति)

अर्थनीति का भारतीयकरण –

अर्थनीति से संबद्ध वक्तव्यों व लेखों में समय-समय पर लिये गये सरकारी निर्णयों पर वे अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते थे। सामान्यतः अर्थनीति के क्षेत्र में पाश्चात्य नकल को बुरा मानते थे। हमारी व पाश्चात्य परिस्थितियों में बहुत फर्क है, अतः हमें अपनी 'अर्थनीति का भारतीयकरण' करना होगा। अपने इस मंतव्य को विवेचित करते हुए दीनदयाल उपाध्याय ने लिखा है :

"देश का दारिद्रय दूर होना चाहिए, इसमें दो मत नहीं किन्तु प्रश्न यह है कि यह गरीबी कैसे दूर हो? हम अमेरिका के मार्ग (पूंजीवाद) पर चले या रूस के मार्ग (समाजवाद) को अपनायें अथवा यूरोपीय देशों का अनुकरण करें? हमें इस बात को समझना होगा कि इन देशों की अर्थव्यवस्था में अन्य कितने भी भेद क्यों न हो इनमें एक मौलिक साम्य है। सभी ने मशीनों को ही आर्थिक प्रगति का साधन माना है। मशीन का सर्वप्रधान गुण है कम मनुष्यों द्वारा अधिकतम उत्पादन करवाना। परिणामतः इन देशों को स्वदेश में बढ़ते हुए उत्पादन को बेचने के लिए विदेशों के बाजार ढूंढने पड़े। साम्राज्यवाद उपनिवेशवाद इसी का स्वाभाविक परिणाम बना। इस राज्य–विस्तार का स्वरूप चाहे भिन्न-भिन्न हो किन्तु क्या रूस को, क्या अमेरिका को तथा क्या इंगलैंड को, सभी को इस मार्ग का अवलम्बन करना पड़ा।.... हमें स्वीकार करना होगा कि भारत के आर्थिक प्रगति का रास्ता मशीन का रास्ता नहीं है। कुटीर उद्योगों को भारतीय अर्थनीति का आधार मानकर विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था का विकास करने से ही देश की आर्थिक प्रगति संभव है।"

उपाध्याय बड़े उद्योगों के आधार पर रचित अर्थव्यवस्था को भारतीय परिस्थिति में उचित नहीं समझते थे। कृषि के क्षेत्र में छोटे तथा स्वामित्ववान खेतों के हिमायती थे। 1959 में कांग्रेस अधिवेशन में साम्यवादी चीन की कृषि योजना की नकल पर 'सहकारी खेती' का प्रस्ताव पारित किया गया था। उपाध्याय ने उसे अव्यावहारिक तथा अवांछनीय मानते हुए उसका विरोध किया।

वे देश में घटित होने वाले हर आर्थिक घटना पर अपनी टिप्पणी करते थे। अतः इन टिप्पणियों का प्रभूत फुटकर साहित्य अध्ययनार्थियों के लिए उपलब्ध है। जब सरकार ने खाद्यान्न व्यवसाय के राष्ट्रीयकरण का प्रस्ताव रखा, दीनदयाल जी ने गंभीर

अर्थशास्त्रीय तर्कों के साथ इसका विरोध किया। 1960 में पीएल 480, 1963 में स्वर्ण नियंत्रण कानून तथा 1966 में भारतीय रुपये का अवमूल्यन ऐसी घटनायें थीं, जिनके कारण दीनदयाल जी बौद्धिक रूप से आंदोलित हुए। राष्ट्रीय एवं मानवीय संवेदना के अपने दृष्टिपथ को उन्होंने सांगोपांग तर्कों के साथ प्रस्तुत किया। वे प्रतिवर्ष अर्थनीति पर संस्कृति परक एक नया आलेख लिखते थे।

दीनदयाल उपाध्याय हमारे पंचवर्षीय योजनाओं के नियमित समीक्षक थे। दीनदयाल उपाध्याय ने 1958 में दोनों पंचवर्षीय योजनाओं पर एक शोधपूर्ण अंग्रेजी पुस्तक "दो योजनाएं : वायदे, अनुपालन, आसार का सृजन किया, जो एक अर्थशास्त्री राजनेता द्वारा अनुसंधानपूर्वक की गई विवेचना है। निश्चय ही इस पुस्तक का अर्थशास्त्री एक प्रतिपक्षी राजनेता है। अतः विवेचन व व्याख्या में सत्तापक्ष पर राजनीतिक प्रहारों वाली भाषा का प्रयोग किया गया है।

यह पुस्तक केवल दोनों योजनाओं का ही नहीं, वरन आर्थिक आयोजना की अवधारणा, इतिहास एवं तार्किक निष्पत्तियों का सर्वांगपूर्ण आकलन प्रस्तुत करती है। तथ्यात्मक, तुलनात्मक एवं व्याख्यात्मक आंकड़ों और सारणियों की इस पुस्तक में इतनी भरमार है कि अर्थशास्त्र की शास्त्रीय पृष्ठभूमि के बिना उसको समझ पाना व रूचिपूर्वक पढ़ना, दोनों ही कठिन है।

उपाध्याय द्वारा लिखी गई इस पुस्तक के बारे में यज्ञदत्त शर्मा कहते हैं : "यह कार्य इतना अंतर्वेधी था कि उस समय के योजना आयोग के उपाध्यक्ष श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल ने सभी संबंधित अधिकारियों को एक परिपत्र जारी किया तथा कहा कि ऐसी गंभीर एवं तथ्यप्रकाशी योजना-समीक्षा मैंने नहीं देखी, जैसी पंडितजी की इस पुस्तक में है।" इस पुस्तक के अलावा चतुर्थ पंचवर्षीय योजना तक वे निरंतर अपने आलेखों के माध्यम से इन योजनाओं की समुचित समीक्षा करते रहे। उनकी समीक्षाओं को समग्रता से समझने के लिए विशद सामग्री का अध्ययन आवश्यक है।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के निर्माणकाल में ही प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू का देहावसान हो गया। स्वाभाविक रूप से भारत की पंचवर्षीय योजनाओं पर यदि किसी एक आदमी का सर्वाधिक प्रभाव है तो वह नेहरूजी का ही है। वे इस योजनाक्रम के सर्जक थे। आर्थिक प्रगति की उनकी महत्वाकांक्षी चेतना का बहुत प्रभाव इन योजनाओं में दिखाई देता है। जवाहरलाल नेहरू द्रुतगति से भारत का आर्थिक विकास करके दुनिया की प्रगति की दौड़ में देश को शामिल करना चाहते थे। दीनदयाल उपाध्याय सहज गति के पक्षधर थे। वे क्रमिक विकास को अधिक टिकाऊ और कम समस्याएं पैदा करनेवाला मानते थे। दुनिया की प्रगति की दौड़ में जहां हमारा राष्ट्रीय व्यक्तित्व आगे दिखाई देना चाहिए वहीं राष्ट्र का व्यक्ति-व्यक्ति उसमें सहभागी हो, इसकी भी चिंता करनी चाहिए। इसलिए उनका यह आग्रह सदा बना रहा कि 'सबको काम' पंचवर्षीय योजनाओं की प्रथम वरीयता होनी चाहिए। अपनी ताकत से ज्यादा गति से दौड़ने के जो परिणाम स्वास्थ्य पर होते हैं वे हुए ही। चौथी योजना भी तदानुकूल भारी थी। दीनदयाल उपाध्याय ने कहा, "सोने का अण्डा देनेवाली मुर्गी की ही हत्या हो जाने की संभावना है।

लालबहादुर शास्त्री ऐसे क्रांतिकारी नेता न थे कि महाआभा सम्पन्न अपने पूर्वप्रधानमंत्री के द्वारा बनाए गए योजना आयोग व योजना-प्रारूपों को आग्रहपूर्वक बदलवा देते। उपाध्याय ने चौथी पंचवर्षीय योजना पर अपनी टिप्पणी व समीक्षा पूर्व तीन योजनाओं की तुलना में अधिक व्यापक व क्रमबद्ध रूप से की है। उन्होंने इस संदर्भ में धारावाहिक रूप से "पांचजन्य' में 'योजना बदलो' शीर्षक से पांच लेख लिखे। उन्हीं के आधार पर हम उनके विचारों का अध्ययन कर सकते हैं।

भारतीय संस्कृति में अर्थ :

दीनदयालजी केवल आर्थिक समीक्षक ही नहीं वरन् आर्थिक चिंतक भी थे। जनसंघ में वे एक क्रियाशील दार्शनिक थे। समग्रतावादी दार्शनिक होने के कारण पं. दीनदयाल उपाध्याय उन लोगों से हर विषय पर असहमत रहते हैं जो जीवन के किसी विशिष्ट आयाम को जीवन की समग्रता का नियामक मान बैठते हैं अथवा एक ही पहलू की ऐसी अतिरेकी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं जिसमें जीवन के अन्य विविध पहलुओं की उपेक्षा हो जाती है। इस संदर्भ में उपाध्याय लिखते हैं :

"भारतीय जनसंघ के पास स्पष्ट आर्थिक कार्यक्रम है; किन्तु उसका स्थान हमारे सम्पूर्ण कार्यक्रम में उतना ही है जितना भारतीय संस्कृति में अर्थ का। पाश्चात्य संस्कृति भौतिकवादी होने के कारण अर्थप्रधान है। हम भौतिकवाद और अध्यात्मवाद दोनों का समन्वय करना चाहते हैं। अतः यह निश्चित है कि जनसंघ उन अर्थशास्त्रियों व दलों से, जो अर्थ के सामने जीवन के प्रत्येक मूल्य की उपेक्षा करके चलना चाहते हैं, इस मामले में सदैव पीछे रहेगा। जनसंघ हृदय, मस्तिष्क और शरीर तीनों का सम्मिलित विचार करता है। इसी कारण कुछ लोग जनसंघ पर यह आरोप लगाते हैं कि जनसंघ आध्यात्मिकता की उपेक्षा करता है, महर्षि अरविंद आदि महापुरूषों की भाषा नहीं बोल पाता। हम दोनों ही प्रकार के आरोपों का स्वागत करते हैं और इतना ही कहना चाहते हैं कि अर्थ, समाज की धारणा के लिए आवश्यक है। जितने मात्र से व्यक्ति अपना भरण-पोषण करके अन्य श्रेष्ठ मूल्यों की प्राप्ति के लिए प्रयास कर सके उतने को ही हमने अपने कार्यक्रम में स्थान दिया है।"

अपने आर्थिक चिंतन को व्याख्यायित करने के लिए दीनदयाल उपाध्याय ने 'भारतीय अर्थनीति. : विकास की एक दिशा' नामक पुस्तक लिखी। पुस्तक में अर्थनीति की विवेचना करते हुए उन्होंने अपने 'एकात्म मानव' के अर्थायाम की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। "समाज से अर्थ के प्रभाव व अभाव दोनों को मिटाकर उसकी समुचित व्यवस्था करने को 'अर्थायाम' कहा गया है।

धन का मनोविज्ञान

धन का अभाव मनुष्य को चोर बनाता है। अभाव के क्षणों में की गई चोरी को भारतीय शास्त्रकार अपराध नहीं वरन् 'आपद्धर्म' की संज्ञा देते हैं :

"उन्होंने (विश्वामित्र ने) धर्म की अनेक मर्यादाओं को भंग किया। आपद्धर्म की संज्ञा देकर शास्त्रकारों ने उनके इस व्यवहार को उचित ठहराया है। यदि अर्थ के अभाव की आपत्ति बनी रहे तो फिर आपद्धर्म अर्थात चोरी ही धर्म बन जाएगा। यदि यह आपत्ति समष्टिगत हो जाए अथवा समष्टि का बहुतांश इससे व्याप्त हो जाए तो वे एक दूसरे की चोरी करके अपने आपद्धर्म का निर्वाह करेंगे।"

अर्थात् समाज में अर्थ का अभाव अथवा अभावमूलक नियोजन समाज में अधर्म को धर्म बना देता है। वैसे ही "अर्थ का प्रभाव भी धर्म का नाश करता है। ... अर्थ जब अपने में या उसके द्वारा प्राप्त पदार्थों में और उससे प्राप्त भोग-विलास में संग (आसक्ति) उत्पन्न कर देता है तब अर्थ का प्रभाव कहा जाता है। 'सर्वेः गुणाः कंचनमाश्रयन्ति' जब समाज में सभी 'धनपरायण' हो जाए तो प्रत्येक कार्य के लिए अधिकाधिक धन की आवश्यकता होगी। धन का यह प्रभाव प्रत्येक के जीवन में अर्थ का अभाव उत्पन्न कर देगा।"

स्वामित्व का सवाल

"संपत्ति किसकी' यह सभ्य समाज का आदिकालिक प्रश्न है। संपत्ति को संपूर्ण समाजचक्र का नियामक मान लेने से इस सवाल की अहमियत और बढ़ गई। व्यक्तिवाद व समाजवाद के विचारधारात्मक संघर्ष ने इसे एक नवीन आयाम दे दिया, सम्पत्ति पर व्यक्ति का अधिकार अथवा सम्पत्ति पर समाज का अध्किार? उपाध्याय 'सम्पत्ति के स्वामित्व के लिए व्यक्ति व समाज के द्वंद्व को ही गलत मानते हैं; अत: इस सवाल का सीधा उत्तर नहीं देते।

हर व्यक्ति समाज का प्रतिनिधि है। अतः वह समाज की सम्पत्ति के एक हिस्से का 'न्यासी' या संरक्षक है। उपाध्याय व्यक्ति को श्रीविहीन करने के खिलाफ हैं। व्यक्ति स्वयं 'समाजपुरूष' का अंग है। अतः वह स्वयं ही समाज की धरोहर है। इसलिए सम्पत्ति का अमोध अधिकार तो समाज का ही है; लेकिन वे समाज की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था के नाते 'राज्य को मानने के लिए तैयार नहीं हैं। यही कारण है कि निजी संपत्ति का केंद्रीकरण या सामाजिक अधिकार के नाम पर राज्य में संपत्ति के केंद्रीकरण को वे समान रूप से गलत मानते हैं। आम आदमी को पूंजीपतियों अथवा राज्यसंस्था का मजदूर या गुलाम बना देना वे मानवता का

अपमान समझते हैं। उपाध्याय सम्पत्ति पर न तो व्यक्ति का अमर्यादित स्वामित्व स्वीकार करते हैं और न ही अमर्यादित राज्याधिकार। वे स्वामित्व के केंद्रीकरण के खिलाफ हैं। अतः वे विकेंद्रित राज्य व विकेन्द्रीत अर्थव्यवस्था के समर्थक हैं।

उपाध्याय कहते हैं, ... समाजवादी निजी सम्पत्ति को ही समाप्त करने की बात करते हैं। उनका सिद्धांत व व्यवहार दोनों ही दृष्टि से समर्थन करना कठिन है। यद्यपि सृष्टि के आरम्भ से ही 'अपरिग्रह एवं 'मां गृधः कस्यस्विद्धनम्' का उपदेश मिला है; किंतु यह संसार मेरे और तेरे का ही नाम है। साम्यवादी जो निजी संपत्ति की भावना को जड़मूल से समाप्त कर देना चाहते थे, पहले व्यक्तिगत और फिर कुछ-कुछ अंश में निजी सम्पत्ति को भी स्वीकार करने लगे। निजी सम्पत्ति के कारण बुराइयां उत्पन्न होने पर भी हम उसका बहिष्कार नहीं कर सकते। हां हमें निजी सम्पत्ति की मर्यादाएं अवश्य स्थापित करनी होगी।"

व्यक्तिगत सम्पत्ति के नियमन एवं अर्थोत्पादकीय आयोजना के लिए उपाध्याय राज्याधिकार को भी स्वीकार करते हैं। जहां कुछ हाथों में पूंजी के केंद्रीकरण का खतरा हो वहां राष्ट्रीकरण को वे वांछनीय मानते हैं :

"जहां तक कुटीर उद्योगों" का सवाल है, यह खतरा बहुत कम है। लेकिन जहां बड़े उद्योगों का क्षेत्र शुरू होता है वहां यह खतरा उत्पन्न होता है। सुरक्षा उद्योगों का तो राष्ट्रीयकरण अनिवार्य है। अब प्रश्न बचता है पूंजी-उद्योगों का। उनका भी अंतिम रूप से राष्ट्रीयकरण कर देना उद्देश्य होना चाहिए। आज पूंजी-उद्योग व्यक्तिगत क्षेत्र में आते हैं। उनसे व्यक्तिगत क्षेत्र का क्रमिक उन्मूलन किया जाना चाहिए। जब तक यह राष्ट्रीयकरण अंतिम रूप से सम्पन्न नहीं हो जाता तब तक बड़े उद्योगों के गुट बनने देने की प्रवृत्ति को रोकना चाहिए। जिन उद्योगों में ये गुट बन गए हैं उनका राष्ट्रीयकरण कर लिया जाए। कुटीर उद्योगों का विकास करते समय भी इस बात का ध्यान रखना होगा कि उनके गुट बनाकर पूंजीपति उन पर नियंत्रण स्थापित न कर लें। जापान में वितरण तथा संपत्ति की असमानता का कारण वहां के कुटीर उद्योगों पर पूंजीपतियों का नियंत्रण ही है।"

स्वामित्व के सवाल को जिस प्रकार पूंजीवादी व समाजवादी लोग प्रस्तुत करते हैं उसे वे उनकी विभक्त दृष्टि का परिचायक मानते हैं। उपाध्याय की नजर में संपत्ति के 'स्वामित्व' की बजाय 'केंद्रीकरण' का सवाल ज्यादा अहम है, साथ ही 'उपभोगवाद' की अवधारणा का सवाल भी महत्वपूर्ण है। अतः वे लिखते है ।

"स्वामित्व के साथ अनिर्बध नियंत्रण एवं मनमाने उपभोग की धारणाओं ने इस विषय को गलत पृष्ठभूमि में प्रस्तुत किया है। किसी भी वस्तु पर मेरा स्वामित्व होने के बाद भी मुझे यह अधिकार प्राप्त नहीं कि मैं उसका चाहे जैसा उपभोग करूं। स्वामित्व एवं उपभोग की दोनों भावनाओं को जब तक हम अलग-अलग नहीं करेंगे तब तक हम होने वाली बुराइयों को नहीं रोक सकेंगे। जिस वस्तु का मैं स्वामी हूं उसका उपभोग समाज हित में ही करने का मुझे अधिकार है, यह विचार प्रत्येक व्यक्ति के सम्मुख चाहिए ... राज्य भी जब स्वामित्व ग्रहण कर लेता है तो वह व्यक्तियों द्वारा ही व्यवस्था करता है।... जो व्यक्ति आज अपनी चीज का मनमाना उपयोग करने से नहीं डरता वह समाज की वस्तु का उपयोग भी वैसा ही नहीं करेगा, इसकी गारंटी नहीं दी जा सकती। यदि उसके दुरुपयोग को रोकने के लिए दण्डनीति आवश्यक समझते हैं तो वह उसके पास स्वामित्व का अधिकार रहते हुए भी काम में लाई जा सकती है।"

दीनदयाल उपाध्याय व्यक्ति के निजत्व को कुचलने वाले राज्याधिकार व समाज की उपेक्षा करने वाले वैयक्तिक अधिकारों के खिलाफ हैं। वे इसे मानव की अस्वस्थ अवस्था का परिचायक मानते हैं। सम्पत्ति पर व्यक्ति या राज्य के अनिर्बध नियंत्रण के अधिकार का सवाल भी इस अस्वस्थ अवस्था की उपज हैं।

उनका मत है, "गंभीरता से देखें तो स्वामित्व का अधिकार वास्तव में निश्चित मर्यादाओं तथा निश्चित उद्देश्यों के लिए किसी वस्तु के उपयोग का अधिकार ही है। समय के साथ इन अधिकारों में परिवर्तन होता रहता है। अतः हम सैद्धांतिक दृष्टि से व्यक्ति और समाज के झगड़े में नहीं पड़ेंगे।.... सम्पत्ति का उपभोग कुटुम्ब (समाज) के हित में होता है, मनमाने ढंग से नहीं। 'ट्रस्टीशिप'का यह भारतीय सिद्धांत गांधी व गुरुजी आदि विचारकों ने समाज के सम्मुख रहा है।"

व्यष्टि एवं समष्टि के साझेपन में ही मानवता का सुख अंतर्निहित है। अतः सम्पत्ति पर यह साझा अधिकार ही उपाध्याय के एकात्म मानववाद को अभिप्रेत है।

आर्थिक लोकतंत्र

दीनदयाल उपाध्याय लोकतंत्र को केवल राजनीतिक जीवन का आयाम नहीं मानते। उनका मत है, 'प्रत्येक को वोट' जैसे राजनीतिक प्रजातंत्र का निकष है, वैसे ही 'प्रत्येक को काम' यह आर्थिक प्रजातंत्र का मापदण्ड है। 'प्रत्येक को काम' के अधिकार की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं : "काम प्रथम तो जीविकोपार्जनीय हो तथा दूसरे,व्यक्ति को उसे चुनने की स्वतंत्रता हो। यदि काम के बदले में राष्ट्रीय आय का न्यायोचित भाग उसे नहीं मिलता हो तो उसके काम की गिनती 'बेगार' में होगी। इस दृष्टि से न्यूनतम वेतन, न्यायोचित वितरण तथा किसी-न-किसी प्रकार की सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था आवश्यक हो जाती है।" उपाध्याय आगे कहते हैं:

"जैसे बेगार हमारी दृष्टि में काम का नहीं है वैसे ही व्यक्ति के द्वारा काम में लगे रहते हुए भी अपनी शक्तिभर उत्पादन न कर सकना काम नहीं है। 'अण्डर इम्पलॉइमेंट' भी एक प्रकार की बेकारी है।"

उपाध्याय उस अर्थव्यवस्था को अलोकतांत्रिक मानते हैं जो व्यक्ति के उत्पादन-स्वातंत्र्य या सृजनकर्म पर आघात करती है। अपने उत्पादन का स्वयं स्वामी न रहने वाला मजदूर या कर्मचारी अपनी स्वतंत्रता को ही बेचता है। आर्थिक स्वतंत्रता व राजनीतिक स्वतंत्रता परस्पर अन्योन्याश्रित हैं-राजनीतिक प्रजातंत्र बिना आर्थिक प्रजातंत्र के नहीं चल सकता। जो अर्थ की दृष्टि से स्वतंत्र है वही राजनीतिक दृष्टि से अपना मत स्वतंत्रतापूर्वक अभिव्यक्त कर सकेगा। 'अर्थस्य पुरूषो दासः' (पुरूष अर्थ का दास हो जाता है)।"

मनुष्य के उत्पादन-स्वातंत्र्य पर सबसे बड़ा हमला पूंजीवादी औद्योगीकरण ने किया है। अतः उपाध्याय औद्योगीकरण का इस प्रकार से नियमन चाहते हैं कि जिससे वह स्वतंत्र, लघु एवं कुटीर उद्योगों को समाप्त न कर सके :"आज जब हम सर्वांगीण विकास का विचार करते हैं तो संरक्षण की आवश्यकता को स्वीकार करके चलते हैं। यह संरक्षण देश के उद्योगों को विदेशी उद्योगों की प्रतिस्पर्धा से तथा देश के छोटे उद्योगों को बड़े उद्योगों से देना होगा।" उपाध्याय यह महसूस करते हैं कि पश्चिमी औद्योगीकरण की नकल ने भारत के पारम्परिक उत्पादन को पीछे धकेला है तथा बिचौलियों को आगे बढ़ाया है।.... हमने पश्चिमी की तकनीकी प्रक्रिया का आंख बंद करके अनुकरण किया है। हमारे उद्योग का स्वाभाविक विकास नहीं हो रहा। वे हमारी अर्थव्यवस्था के अभिन्न व अन्योन्याश्रित अंग नहीं अपितु ऊपर से लादे गए हैं। ... (इनका विकास) विदेशियों के अनुकरणशील सहयोगी अथवा अभिकर्ता कतिपय देशी व्यापारियों द्वारा हुआ है। यही कारण है कि भारत के उद्योगपतियों में, सब के सब व्यापारी आढ़तियों तथा सटोरियों में से आए हैं। उद्योग एवं शिल्प में लगे कारीगरों का विकास नहीं हुआ है।"

स्वयंसेवी क्षेत्र का विकास

देश के आम शिल्पी व कारीगर की उपेक्षा करनेवाला औद्योगीकरण अलोकतांत्रिक है। पूंजीवाद व समाजवाद के निजी व सार्वजनिक क्षेत्र के विवाद को उपाध्याय गलत मानते हैं। इन दोनों ने ही स्वयंसेवी क्षेत्र का गला घोंटा है। आर्थिक लोकतंत्र के लिए आवश्यक है स्वयंसेवी क्षेत्र का विकास करना। इसके लिए विकेंद्रीकृत अर्थव्यवस्था जरूरी है :

राजनीतिक शक्ति का प्रजा में विकेंद्रीकरण करके जिस प्रकार शासन की संस्था का निर्माण किया जाता है, उसी प्रकार आर्थिक शक्ति का भी प्रजा में विकेंद्रीकरण करके अर्थव्यवस्था का निर्माण एवं संचालन होना चाहिए। राजनीतिक प्रजातंत्र में व्यक्ति की अपनी रचनात्मक क्षमता को व्यक्त होने का पूरा अवसर मिलता है। ठीक उसी प्रकार आर्थिक प्रजातंत्र में भी व्यक्ति की क्षमता को कुचलकर रख देने का नहीं; अपितु उसको व्यक्त होने का पूरा अवसर प्रत्येक अवस्था में मिलना चाहिए .... राजनीति में

व्यक्ति की रचनात्मक क्षमता को जिस प्रकार तानाशाही नष्ट करती है, उसी प्रकार अर्थनीति में व्यक्ति की रचनात्मक क्षमता को भारी पैमाने पर किया गया औद्योगीकरण नष्ट करता है। ....इसलिए तानाशाही की भांति ऐसा औद्योगीकरण भी वर्जनीय है।
यंत्रचालित औद्योगीकरण की मर्यादा स्पष्ट करते हुए उपाध्याय एक समीकरण प्रस्तुत करते हैं : प्रत्येक को काम का सिद्धांत स्वीकार कर लिया जाए तो सम-वितरण की दिशा सुनिश्चित हो जाती है और हम विकेंद्रीकरण की ओर बढ़ते हैं। औद्योगीकरण को उद्देश्य मानकर चलना गलत है। इस सिद्धांत को गणित के सूत्र में यों रख सकते हैं :

'ज ग क ग य ग इ'

यहां 'ज' जन का परिचायक है, 'क' कर्म की अवस्था व व्यवस्था का, 'य; यंत्र का तथा 'इ' समाज की प्रभावी इच्छा या इच्छित संकल्प का द्योतक है। 'इ' तथा 'ज' तो सुनिश्चित है। 'इ' और 'ज' के अनुपात में 'क' तथा 'य' को सुनिश्चित करना है। लेकिन औद्योगीकरण लक्ष्य होने पर 'य' सबको नियंत्रित करता है। 'य' के अनुपात में जन की छंटनी होती है। 'य' के अनुपात में 'इ' को भी यंत्रों के अति उत्पादन का अनुसरण करना पड़ता है जो कि सर्वथा अवांछनीय है। 'ज' की छंटनी कर देनेवाली कोई भी अर्थव्यवस्था अलोकतांत्रिक है। 'इ' को नियंत्रित करने वाली अर्थव्यवस्था तानाशाही है। अतः 'ज' तथा 'इ' के नियंत्रण में 'क' का नियोजन होना चाहिए। वही लोकतांत्रिक एवं मानवीय अर्थव्यवस्था कही जा सकती है।

विकेंद्रित अर्थव्यवस्था

विकेंद्रित अर्थव्यवस्था के लिए विकेंद्रित राजनीतिक व्यवस्था भी जरूरी है। इसके लिए उपाध्याय स्वावलम्बी समर्थ ग्रामपंचायतों व जनपद-व्यवस्था के पक्षधर हैं। हमारी अर्थव्यवस्था का आधार हमारे ग्राम तथा जनपद होने चाहिए। ग्रामों को उजाड़ने वाले आर्थिक नियोजन अंततः भारत को उजाड़ने वाले सिद्ध होंगे। शहर व ग्रामों का विषम विकास हमारी राष्ट्रीय अखंडता के लिए भी घात क होगा। संसाधनों व सत्ता के केंद्रीकरण के कारण हम पूंजीवाद व उसके प्रतिक्रियात्मक दुष्चक्र से बच नहीं सकते। अतः आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना के लिए विकेंद्रित अर्थव्यवस्था ही भारतीय परिस्थितियों में हमारे लिए उपादेय है। अतः उपाध्याय कहते हैं :
विकेंद्रित अर्थव्यवस्था चाहिए। स्वयंसेवी क्षेत्र (मस मउचसवलमक मब. जवत) को खड़ा करना होगा। यह क्षेत्र जितना बड़ा होगा उतना ही मनुष्य आगे बढ़ सकेगा, मनुष्यता का विकास हो सकेगा, एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का विचार कर सकेगा। प्रत्येक मनुष्य की व्यक्तिशः आवश्यकताओं और विशेषताओं का विचार करके उसे काम देने पर उसके गुणों का विकास हो सकता है। यह विकेंद्रित अर्थव्यवस्था भारत ही संसार को दे सकता है।" जो व्यवस्थाएं भारी उद्योगों व केंद्रीकरण के दुष्चक्र में एक बार फंस गई, उन्हें वापस लौटाना कठिन है। अतः तृतीय विश्व के देशों को ग्रामोन्मुखी लघु उद्योगों वाली विकेंद्रित अर्थव्यवस्था को अपनाना चाहिए।
दीनदयाल उपाध्याय इस बात से सहमत नहीं हैं कि छोटे उद्योग आर्थिक दृष्टि से किफायती नहीं होते। उनका मत है कि बड़े उद्योगों की किफायत एक भ्रम हैं। वास्तविक किफायत छोटे उद्योगों में ही होती है।
"सत्य तो यह है कि किफायत बड़े पैमाने पर उत्पादन से नहीं, अधिक उत्पादन के कारण होती है। अगर हम इतिहास को देखें तो ब्रिटेन में बड़े पैमाने पर कपड़ा तैयार होने पर भी भारत का कपड़ा वहां जाकर सस्ता पड़ता था। जापान की जो वस्तुएं सस्ती बाजार में आकर, बाकी सब माल को निकाल देती हैं, बड़े कारखानों में नहीं घरों में बनती हैं.... यदि उनकी (छोटे उद्योगों की) असुविधाएं दूर कर दी जायें तथा बड़े उद्योगों को जो सुविधाएं अतिरिक्त कारणों से प्राप्त हैं, न मिलें, तो निश्चित ही वे (छोटे उद्योग) बाजी मार ले जाएंगे। हमें मालम है कि 1930-37 के काल में छोटे-छोटे मोटर चलाने वालों ने रेलों को प्रतियोगिता में पछाड़ दिया था। यदि शासन और युद्ध रेलों की मदद को नहीं आते तो उनके लिए जीवित रहना कठिन हो जाता।"

सन्दर्भग्रन्थाः –

1. कुलकर्णी शरद अनन्त (1987) 'पंडित दीनदयाल उपाध्याय विचार-दर्शन' खण्ड 4 नई दिल्ली, सुरुचि प्रकाशन
2. हृदय नारायण दीक्षित, तत्वदर्शी दीनदयाल उपाध्याय, दीनदयाल उपाध्याय सेवा प्रतिष्ठान, लखनऊ, 1996, पृष्ठ 72-85
3. दिलीप अग्निहोत्री, दीनदयाल उपाध्याय के विचार और दर्शन आज भी प्रासंगिक, प्रभा साक्षी, डेलीहंड, 25 सितम्बर, 2018, पृष्ठ 1-2
4. डॉ० कुलदीप चन्द अग्निहोत्री, दीनदयाल उपाध्याय चिन्तन की प्रासंगिकता, प्रवक्ता.कॉम, 01.03.2018, पृष्ठ 3
5. शिवानन्द द्विवेदी, दीनदयाल उपाध्याय सिर्फ नाम नहीं बल्कि एक विचार है, जागरण सवेरा, 01.03.2018, पृष्ठ 2
6. धनंजय जैसवाल, मई,27,2019, "लघु उद्योग में आने वाले - प्रोडक्ट्स की जानकारी", पृष्ठ सख्या, 1-5
7. दीन दयाल विचार दर्शन खण्ड-7 पृष्ठ संख्या 46
8. पंडित दीनदयाल उपाध्याय, एकात्म मानववाद, प्रकाशक जागृति प्रकाशन, नोएडा- 201301 अंतरराष्ट्रीय मानक पृष्ठ सख्या 1-42
9. पं. दीनदयाल उपाध्याय, 2007, "विकेन्द्रिकृत अर्थव्यवस्था" लखनऊ पृष्ठ सख्या,-78
10. एकात्मता स्त्रोत्रम्, (लोक हित प्रकाशन, लखनऊ 4)